THE ECONOMIC TIMES

Date: 21-02-17

Make in India needs an efficient retail sector

The government reportedly wants to free up foreign direct investment (FDI) in retail, but only for domestically manufactured goods. That shows confused thinking, not reform to enrich the economy and empower consumers.

The country needs inflow of foreign capital. Real reform requires lifting curbs in FDI on all types of retail, both online and physical. It will boost investment, both in real estate and in manufacturing, bring in business expertise, and modernise the country's retail sector. The notion that allowing 100 per cent FDI — only in e-commerce and brickand-mortar companies that make and sell stuff locally — will boost domestic manufacturing is misplaced.

What will or will not be produced in India should be left to tariffs and industrial policy, apart from inherent competitiveness of local production relative to production abroad. The need is to freely allow foreign investment in retail, so as to offer manufacturers a ready distribution platform. It would also end complaints by organised physical retailers over unfair competition from online retail that receives oodles of cash from venture funds that it converts into discounts.

General mistrust of organised retail is unwarranted as the benefits outweigh harm caused to small traders. Organised retail chains do away with tiers of stocking and distribution between the producer and consumer. This, in turn, lowers the cost for consumers, expands the market and boosts tax collections. By derisking distribution, domestic manufacturing can draw more investment, including investment by mid-size foreign companies that can make products, but are too tiny to invest or build their own distribution network.Whether retailers should hold inventory or function as a marketplace should be left to the logic of commercial efficiency, rather than diktat, as at present. For a variety of goods, the marketplace model is just fine and would be chosen by the industry of its own accord. When selling directly to the customer by the online retailer is desirable, as it might be in the case of some specialist goods, why should policy come in the way and obstruct commerce?

Date: 21-02-17

Amend constitution and set the women of Nagaland free

Nagaland chief minister T R Zeliang quit on Sunday. His party, the Naga People's Front, has 46 lawmakers in a house of 60. Its allies, the Democratic Alliance of Nagaland, have the rest: Nagaland has no elected opposition. Yet, Zeliang's ouster shows the real opposition comes from conservative outfits like the Naga Hoho, an all-male body of tribal elders. Trouble started last year, when the Supreme Court upheld an appeal by the Naga Mothers' Association to allow 33 per cent reservation for women in urban local body elections.

Zeliang wanted to conduct municipal polls on February 1, with

such reservations. Tribal organisations protested, saying the Constitution upholds tribal customary law, which allows little space for women in public life. After protests paralysed administration, Zeliang called off municipal polls. But that was not enough: zealots prevailed upon cowed legislators, who got Zeliang to quit. This has revealed the deep patriarchal bias in Naga society. Since Nagaland's first election in 1964, there has been no woman representative in its assembly.

Male chauvinism prospers on the back of a constitutional ambiguity. Article 371 (A) says, "No Act of Parliament shall apply to Nagaland in relation to religious or social practices of the Nagas, Naga customary law and procedure, administration of civil and criminal justice involving decisions according to the Naga Customary law, ownership and transfer of land and its resources."This contradicts not just Article 243(D) that guarantees reservations for women, but the basic right to equality and the overall principle that when custom conflicts with fundamental rights, rights must prevail. The Constitution should be amended to make this explicit. Nagaland's women have the right to be part of the democratic mainstream.

दैनिक भास्कर

Date: 21-02-17

मातृ भाषा से ही खुलते हैं अन्य भाषाओं के द्वार

भाषा मनुष्य की सर्जन शक्ति का ऐसा नायाब तोहफा है जो सिर्फ उसे और उसकी दुनिया को ही नहीं बल्कि जो हो सकता है, यानी संभावना है, उसे भी रचता चलता है। आज विश्व में लगभग सात हजार भाषाएं जीवित हैं और वैश्वीकरण के इस दौर में अपने से भिन्न संस्कृतियों में काम करने के लिए दूसरी भाषा का ज्ञान जरूरी होता जा रहा है। रोजगार की खोज में और युद्ध जैसी विभीषिकाओं के चलते लोग एक देश से दूसरे देश में आवागमन करते हैं। ऐसी दशा में लोगों को अपनी भाषा के साथ दूसरी भाषाओं को भी सीखना पड़ता है। भाषाओं का सह-अस्तित्व आज जैसा है वह अनोखा है। द्विभाषिकता या बहु भाषिकता अब अपवाद नहीं बल्कि सामान्य बात है। भारत में तो द्विभाषिकता सामान्य तथ्य है। सामाजिक निकटता और क्षेत्रीयता के हिसाब से भाषाओं के बीच रिश्ता बनता है। भाषाओं के संसार में रहते हुए हम रचना भी करते हैं और खुद भी रचे और बुने जाते हैं, जिसका सिलसिला बचपन में शुरू होता है।

बच्चे को भाषा एक अनुभव के रूप में जन्म से पहले से ही प्राप्त रहती है। माता-पिता घर में बातचीत करते हुए बच्चे के सामने नया संसार खोलते चलते हैं। उसके मस्तिष्क पर भाषा के इस पहले अनुभव की बड़ी गहरी और अमिट छाप पड़ती है, जो अचेतन स्तर पर भी सक्रिय रहती है। साथ ही बच्चे का भाषा-प्रयोग तथा भाषा-अभ्यास उसके मस्तिष्क को जरूरी पोषक खुराक भी देता है। यही मातृभाषा है। मातृभाषा के लिए प्राण न्यौछावर करने का पहला उदाहरण पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) में मिलता है। बांग्ला भाषा के मान की रक्षा के लिए ढाका में 21 फरवरी 1952 को चार लोग शहीद हुए थे। उसके बाद विश्वभर में मातृभाषा प्रेमी खासकर बांग्लाभाषी इस दिवस को भाषा शहीद दिवस के रूप में मनाकर भाषा-शहीदों का स्मरण करते हैं।

मानव जीवन के शुरुआती सात वर्ष भाषा सीखने लिए बेहद महत्वपूर्ण पाए गए हैं। शोध अध्ययनों में बच्चों की आरंभिक शिक्षा के लिए उनकी मातृभाषा को ही सबसे उपयुक्त माध्यम पाया गया है। मातृभाषा में एक बार महारत हासिल हो जाने के साथ बच्चे के पास भाषा के उपयोग का एक सांचा उपलब्ध हो जाता है। तब उसके लिए दूसरी भाषा(एं) सीखना सरल हो जाता है। स्कूल की भाषा मातृभाषा या घर की भाषा न हो

तो यह भेद सीखने के काम को कठिन बना देता है। यदि माता-पिता उस भाषा से अपरिचित हों तो सीखना पूरे परिवार पर भार हो जाता है। जैसा कि हिंदी (या अन्य कोई भारतीय) भाषा-भाषी माता-पिता का बच्चा जब अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में जाता है तो वे बच्चे की पढ़ाई में मदद नहीं कर पाlते। ऐसे बच्चे स्कूल में नहीं टिक पाते और पढ़ाई में उनकी रुचि कम हो जाती है। जो बच्चे टिकते भी हैं उनकी शैक्षिक उपलब्धि और सर्जनात्मकता अपेक्षाकृत सीमित रह जाती है। समाज में सबको समान अवसर देने का वादा भी अधूरा ही रह जाता है। अतः जरूरी है कि मातृभाषा में आरंभिक शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाए लेकिन, भारत की वास्तविकता दूसरा ही चित्र दर्शाती है। भारत भाषा के लिहाज़ से अजीब-सी स्थिति में है, जहां अंग्रेजी का मोह इस कदर उमड़ रहा है कि मातृभाषाएं पिछड़ती जा रही हैं। शिक्षा की गुणवत्ता को आंख मूंदकर अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी सलीके और कायदे-कानून के साथ जोड़ दिया गया है। प्रतिष्ठा, मान-सम्मान और वर्चस्व की दृष्टि से आज अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के बीच बड़ी खाई पैदा हो गई है। बिना जांचे-परखे हमने उसे ज्ञान की अंतिम वाहिका मान लिया है। आज हिंदी पट्टी का युवा अंग्रेजी के चक्कर में ज्ञान तो दूर अपनी मातृभाषा हिंदी भी भूल रहा है। उसका भाषिक संस्कार दिन-प्रतिदिन कमजोर पड़ता जा रहा है।

हिंदी की उपभाषाओं या बोलियों जैसे ब्रज, अवधी और भोजपुरी आदि को हिंदी के विरुद्ध खड़ा करते हुए लोगों ने भाषा के प्रश्न और भी जटिल बना दिया है। सदियों से हिंदी इन उपभाषाओं से रस ग्रहण करती आ रही है पर आज इन सभी को आमने-सामने खड़ा किया जा रहा है। इसके राजनीतिक लाभ हो सकते हैं। ध्यान से विचार करें तो इनके बीच सहयोग की आवश्यकता है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान और लोक-संस्कृति को समर्थ बनाने की दृष्टि से हिंदी को समर्थ बनाने की जरूरत है। देशवासियों के मन में स्वदेशी भाव को जगाने के लिए समाज को उसकी अपनी भाषा मिलनी चाहिए। जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे स्वास्थ्य, न्याय और शिक्षा आदि में हिंदी का प्रयोग अभी भी बड़ा ही सीमित है। मनोरंजन और बाजार के क्षेत्रों में थोड़ी जगह जरूरी बनी है। आवश्यक है कि इसे ज्ञान और विचार की भाषा बनाया जाए। एक बहुभाषा-भाषी देश के रूप में भारत समृद्ध है और भाषाओं के बीच सेतु बनाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। यह अद्‌भुत है कि भारत में इस तरह के सेतु के प्रयास की पुरानी परम्परा है। देवनागरी के लिए बिनेश्वर ब्रह्म की शहादत यादगार है। 28 फरवरी, 1948 को असम में कोकराझार के पास भरतमुरी ग्राम में जन्मे ब्रह्म ने 1965 में कोकराझार से हाई स्कूल करके हिंदी विशारद की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। 1971 में असम की सभी स्थानीय भाषाओं के संरक्षण तथा संवर्धन के लिए हुए आंदोलन में वे 45 दिन तक डिब्रूगढ़ जेल में भी रहे। वे 1996 और 1999 में बोडो साहित्य-सभा के अध्यक्ष रहे।

असम में बोडो भाषा के लिए लिपि को लेकर कई बार आंदोलन हुआ और ब्रह्म ने रोमन लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि का समर्थन किया और वह स्वीकार कर ली गई लेकिन, राज्य में उग्रवादी गुट 'नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रंट ऑफ बोडोलैंड' (एनडीएफबी) के दबाव से बोडो साहित्य सभा में फिर से लिपि का प्रश्न उठाया गया। ब्रह्म ने इस बार भी देवनागरी लिपि का समर्थन किया और एनडीएफबी की धमकियों की उपेक्षा की, जो देवनागरी की बजाय रोमन लिपि की मांग करता रहा है। वे देवनागरी को सभी भारतीय भाषाओं के बीच संबंध बढ़ाने वाला सेतु मानते थे। उनके प्रयास से बोडो पुस्तकें देवनागरी लिपि में छपकर लोकप्रिय होने लगीं। इससे उग्रवादी बौखला गए और 19 अगस्त, 2000 की रात में उनके घर पर गोली मारकर उनकी हत्या कर दी गई। ब्रह्म 'देवनागरी के नवदेवता' कहे गए। ब्रह्म जैसे सेतु हर भारतीय भाषा में मौजूद है। इनका उपयोग हिंदी व अन्य मातृभाषाओं को मजबूत बनाने में किया जाए तो ज्ञान-विज्ञान के नए क्षितिज खुलेंगे इसमें शक नहीं।

गिरीश्वर मिश्र,कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा(ये लेखक के अपने विचार हैं।)

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 21-02-17

श्रम में सुधार

भारत के श्रम कानूनों की लंबे समय से पहचान बेहद सख्त और उत्पादकता-विरोधी के रूप में रही है। इस वजह से अर्थशास्त्री अक्सर इन श्रम कानूनों में सुधार की वकालत करते रहे हैं। पिछले कुछ समय में राजस्थान, हरियाणा और मध्य प्रदेश जैसे कुछ राज्यों ने आंशिक मात्रा में श्रम कानूनों को संशोधित भी किया है। अब महाराष्ट्र ने भी स्थानीय श्रम नियमों को लचीला बनाने की पहल शुरू की है। उसने अनुबंध श्रम (नियमन एवं उन्मूलन) अधिनियम (सीएलआरए), 1970 में कुछ संशोधन किए हैं। इस अधिनियम से अनुबंध पर श्रमिकों की नियुक्ति संबंधी नियम निर्धारित किए जाते हैं।

महाराष्ट्र सरकार ने इस अधिनियम को संशोधित करके अब 49 श्रमिकों को अनुबंध पर रखने वाली कंपनियों पर इस अधिनियम के प्रावधान लागू नहीं होने की छूट दे दी है। वैसे यह आगे की दिशा में उठाया गया एक मामूली कदम ही है। बहरहाल, इससे यह पता चलता है कि भारत में श्रम कानूनों के मामले में अभी कितना कुछ किया जाना बाकी है। महाराष्ट्र सरकार के श्रम विभाग की वेबसाइट से पता चलता है कि वहां काम करने वाली इकाइयों पर 47 तरह के श्रम कानून लागू होते हैं। खास तौर पर महाराष्ट्र में लागू दुकान एवं प्रतिष्ठान अधिनियम, 1948 काफी सख्त कानून है। केंद्रीय स्तर पर लागू औद्योगिक विवाद निपटान कानून, 1947 तो श्रम-बहुल इकाइयों के लिए खासी मुसीबत पैदा करता रहा है। अकेले सीएलआरए अधिनियम के प्रावधानों में बदलाव से कुछ खास बात नहीं बनती है। दरअसल अनुबंध श्रम संबंधी कानूनों का खासा उल्लंघन हो रहा है।

यह ध्यान रखना होगा कि श्रम कानूनों में बदलाव की जरूरत आखिर क्यों महसूस की जाती है? असल में इन कानूनों की अनुपालन लागत बहुत ज्यादा है। सख्त श्रम कानूनों के दायरे में आने से बचने के लिए भारतीय कंपनियां खुद को छोटे स्तर पर समेटकर रखना पसंद करती हैं जिससे कम लोगों को ही रोजगार मिल पाता है। ये कानून उत्पादकता बढ़ाने के मामले में भी काफी प्रतिरोधी साबित होते हैं। इन कानूनों को संगठित क्षेत्र में रोजगार की स्थिति बेहतर बनाने के लिए बनाया गया था लेकिन असल में इनके चलते संगठित क्षेत्र के आकार में ही कमी आती है और कुल मिलाकर कर्मचारियों की रोजगार स्थितियों में ही गिरावट आती है। अगर इस व्यापक परिप्रेक्ष्य से देखें तो महाराष्ट्र सरकार का अनुबंध श्रम कानून को संशोधित करने का कदम एक उम्मीद जगाता है लेकिन जरूरत के हिसाब से यह समुद्र में केवल एक बूंद के ही बराबर है। सवाल यह उठता है कि इस पूरे परिप्रेक्ष्य में केंद्र सरकार कहां पर खड़ी है? श्रम क्षेत्र के लिहाज से सबसे अधिक मुसीबत पैदा करने वाले कानून तो केंद्र में ही बने हैं। राजस्थान सरकार ने कुछ वर्षों पहले एक शॉर्टकट अपनाते हुए एक कानून बनाया था जिसके मुताबिक केंद्रीय कानूनों के राज्य में लागू होने पर राज्य सरकार उसमें अपने स्तर पर कुछ बदलाव कर सकती है। हालांकि राष्ट्रपति ने उस कानून को अपनी सम्मति दे दी थी लेकिन अब भी उसकी कानूनी और संवैधानिक वैधता को लेकर सवाल उठते रहे हैं। असल में केंद्र सरकार के दायरे में ही ऐसे समस्यापरक कानून हैं जिनमें बदलाव होने जरूरी हैं।

राज्यों के स्तर पर किए जाने वाले छिटपुट बदलावों से बात नहीं बनेगी। अगर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मेक इन इंडिया अभियान को सफल बनाकर बड़े पैमाने पर रोजगार पैदा करना है तो श्रम सुधार अनिवार्य हैं। नीति आयोग श्रम कानूनों के पांच तरह के तर्कसंगत समूह बनाने की दिशा में भी काम कर रहा है। यह देर से उठाया गया कदम होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। हालांकि एक बार इसका मसौदा तैयार हो जाने के बाद सरकार को यह सुनिश्चित करना होगा कि इस पर कानून बनाने का जिम्मा वह राज्यों पर न छोड़े। नए श्रम कानून संसद से ही पारित किए जाने चाहिए जिससे कि समूचे देश में उन्हें लागू किया जा सके।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 20-02-17

Russia engaging in talks with Taliban over percieved Islamic State threat plays into Pakistan's hands

New Delhi and Kabul need to remind the global community of dangers of turning the clock back vis a vis Taliban.

India was not invited to a Russia-led conference on Afghanistan last December, which included China and Pakistan. The three countries then agreed to start an outreach for reconciliation with the Taliban, the Pakistan-backed terror group which wants to militarily unseat the democratically-elected Afghan government. New Delhi and Kabul registered their protest with Moscow, which led to an invite to last Wednesday's conference for the two countries, along with Iran. The outcome of the meet was, however, not to New Delhi's liking. India and Afghanistan wanted these countries to respect the provisions of the UN Security Council Resolution on terrorist groups. Russia, Iran and Pakistan agreed to respect the international red lines but refused to end the ongoing channels of talks with the Taliban.

The issue at the heart of the matter is not the Taliban, but the so-called Islamic State (IS). Moscow and Tehran see the IS in Afghanistan, which they fear will extend into the region, as a greater threat to their internal security. Russian fears are compounded by the presence of 5,000 Russian-speaking fighters in the IS, which could shift to Afghanistan as the war ends in Syria. They could then expand into the central Asian nations, a theatre Moscow considers as its strategic backyard. As a Shia republic, Iran remains firmly opposed to the IS and worries about the terror group targeting Shias in Afghanistan and then threatening Iran. Considering IS a bigger threat, these countries want to open negotiations with the Taliban, perceived by them as a lesser danger because it does not wish to expand beyond Afghanistan. The United States also seems to be buying into this narrative. This plays into Pakistan's hands, which will again gain a position of pre-eminence for the United States, Russia and China, as it exercises all the levers of control over the Taliban. Besides opening new channels of funding and support, it would hurt long-standing Indian efforts to have Pakistan recognised globally as a state which supports terror.

The arguments are all on India's side because the dichotomy between the Taliban and the IS in Afghanistan is a false one. The IS in Afghanistan is a motley group made of ex-Taliban, local anti-Taliban factions, renegades and criminals, which only uses the flag and symbols of the dreaded terror group. Moreover, the Taliban are no "good terrorists". When they last occupied the seat of power in Kabul in the 1990s, the Taliban ruled brutally and provided a base to Osama bin Laden and al Qaeda. Any negotiation which leads to the return of the Taliban disrespects the sacrifices made by Afghan soldiers and the international forces which fought and continue to fight the Taliban. New Delhi, along with Kabul, needs to remind the global community of the dangers of turning the clock back and undoing all the gains made in Afghanistan in the past 17 years. It is an uphill task, but it will have to be done.